जैन दर्शन-सम्मत आत्मा का स्वरूप-विवेचन

—डॉ. एम० पी० पटैरिया
संस्कृत विभाग
एस. डी. डिग्री कालेज मठलार
(देवरिया)

भारत के दार्शनिक चिन्तन-क्षितिज में आत्म-विचारण के द्योतक दो मौलिक सिद्धान्त, सर्वप्रथम प्रकाश्यमान दिखलाई पड़ते हैं। ये हैं—(१) भूतचैतन्यवाद, और (२) स्वतन्त्र जीव/आत्म-वाद ! इनमें प्रथम भूत चैतन्यवादो चिन्तन का विकास विस्तार, कई प्रकार के अवान्तर सिद्धान्तों में परिस्फुरित हुआ, तो दूसरे स्वतन्त्र जीव/आत्मवादी चिन्तन ने विविध-चिन्तनपरक स्वतन्त्र विचारणाओं की कई पपपराएँ विकसित कीं। इन सबकी सैद्धान्तिक-चर्चा और समोक्षात्मक-विचारणा के लिए साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रंथ[1] में प्रकाशित मेरे लेख को देखा जा सकता है। उन्हीं चर्चाओं के सन्दर्भ में, जैन दार्शनिक आत्म-सिद्धान्तों के अन्तर्गत जीव-आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व-विवेचन इस लेख का लक्ष्य है।

जैनदर्शन में छः द्रव्य माने गये हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें 'जीव' प्रमुख द्रव्य है। शेष पाँचों द्रव्य 'अजीव' हैं। इन अजीव-द्रव्यों के साथ जब जीव का सम्बन्ध जुड़ता है, तब, विश्व का विस्तार होता है; और इस जगत् की समग्र-प्रक्रिया सतत् गतिमान बनो रहती है। जैन दार्शनिकों ने 'जीव' द्रव्य के लिये 'आत्मा' शब्द का भी प्रयोग किया है। अतः जहाँ-जहाँ भी 'जीव' की विवेचना की गई है, उसे 'आत्मा' की भी विवेचना मानना चाहिए। तथापि, 'जीव' और 'आत्मा' दो अलग-अलग शब्द हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थवोध एक ही द्रव्य में कैसे होता है? यह जानने के लिये दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति, लक्षण और व्याख्या भी अपेक्षित है।

'सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः' इस वचन के अनुसार 'गमन' का अर्थ 'ज्ञान' होता है। इस आधार पर 'अतति-गच्छति-जानाति इति आत्मा' —यह व्युत्पत्ति 'आत्मा' की की गई है अर्थात्, शुभ-अशुभरूप कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार यथासम्भव तीव्र-मन्द आदि रूपों में, समग्रतः ज्ञान-आदि गुणों में रहते हैं। ज्ञानादिगुण जीव/आत्मा द्रव्य के हैं। अतः उक्त व्युत्पत्ति, इन्हीं गुणों के आधार पर की गई मानी जा सकती है। अथवा, 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का त्रिक जिसमें है,' वह आत्मा है।[2] 'जीव' वह है, 'जो चार-प्राणों से जीवित है, जीवित था, और जीवित रहेगा।' अर्थात, 'जीवित रहने का गुण जिसमें त्रैकालिक/सार्वकालिक है, वह जीव है। प्राणों के यद्यपि दश प्रकार हैं। किन्तु वे मूलतः चार ही माने गये हैं। ये हैं—बाल प्राण, इन्द्रिय-प्राण, आयु प्राण और श्वासोच्छ्वास।[3] इनमें से बल प्राण के तीन प्रकार हैं—कायबल, मनोबल और वाक्-बल। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र भेदों से इन्द्रिय-प्राण के पाँच प्रकार होते हैं। इन आठों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ श्वासउच्छ्वास को मिलाकर, प्राणों की दश संख्या हो जाती है।

उक्त चार-प्राणों से युक्त 'जीव' है, यह कथन, व्यावहारिक दृष्टि से किया गया है। निश्चयदृष्टि से तो 'जीव' वह है जिसमें 'चेतना' पाई जाये। यह चेतना, तीनों कालों में निर्बाध और अविच्छिन्न रूप से जीव में रहती है।[4] इस आधार पर हम यह कह सकते हैं—इन्द्रिय-आदि दश प्रकार के प्राण पुद्गल/द्रव्यमय हैं। अतः वे 'द्रव्य प्राण' हैं; और 'चेतना' भाव प्राण है। मुक्त-आत्माओं में दश प्रकार के द्रव्य प्राण नहीं रहते। तथापि चेतना रूप भाव प्राणों का अस्तित्व उनमें रहता है। इसी आधार पर उन्हें भी जैन दार्शनिक 'जीव' संज्ञा का व्यवहार करते है।[5]

जीव का लक्षण

जैन दृष्टि, जीव का लक्षण 'उपयोग' मानती है। उपयोग वह है, जो यथासम्भव 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' दोनों प्रकार के हेतुओं का सन्निधान रहने पर, ज्ञाता के चैतन्य के अनुविधायी-परिणाम रूप में प्राप्त होता है। उक्त दोनों हेतुओं को 'आत्मभूत' और 'अनात्मभूत' दो-दो प्रकारों में विभाजित किया गया है। आत्मा से सम्बन्धित शरीर की चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'आत्मभूत बाह्य हेतु' हैं, तथा दीपक आदि 'अनात्मभूत बाह्य हेतु' हैं। शरीर, वाणी और मन की वर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन पैदा करने वाले द्रव्य योग को 'अनात्मभूत आभ्यन्तर हेतु' कहा गया है। जबकि, इसी द्रव्य योग के निमित्त से उत्पन्न ज्ञानादिरूप 'भावयोग' को तथा 'आत्मविशुद्धि' को 'आत्मभूत आभ्यन्तर हेतु' कहा गया है।

उपयोग, दो प्रकार का है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग 'निर्विकल्पक' तथा ज्ञानोपयोग 'सविकल्पक' होता है। अतः व्यवहारदृष्टि से जीव का लक्षण करते समय कहा जायेगा—'ज्ञान और दर्शन उपयोग का जो धारक है, वह 'जीव' है।' किन्तु, शुद्ध निश्चय दृष्टि से शुद्ध ज्ञान-दर्शन को ही जीव का लक्षण माना जायेगा।[6]

जीव का स्वरूप

जीव का स्वरूप दो प्रकार का है—शुद्ध स्वरूप और अशुद्ध स्वरूप। विभिन्न प्रकार के कर्मों के साथ जब तक जीव का सम्बन्ध है और जन्म-मरण-आदि कर्मजन्य विभाव पर्यायों के रूप में उसका परिणमन जब तक हो रहा है, तब तक वह 'अशुद्ध स्वरूप' वाला रहता है। किन्तु, जब गुप्ति, समिति-आदि रूप संवर-निर्जरा के द्वारा घातिकर्मों का क्षय करके अनन्तचतुष्टय से युक्त हो जाता है, तब वह 'विशुद्ध' स्वरूप वाला हो जाता है, और, बाकी बचे चार अघाति कर्मों को भी जब नष्ट कर देता है, तब, आठ अनन्त गुणों वाला होकर 'परमात्मा' कहलाने का हकदार हो जाता है। इसी अवस्था में उसे 'सिद्ध' कहा जाने लगता है।[7]

जीव का परिणमन

यह जगत्, पर-परिणमनात्मक है। इसमें, ज्ञानावरण-आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के अनुसार क्रोध, मान आदि रूप जो संख्यातीत मलिन भाव पैदा होते हैं, उन्हें 'वैभाविक' और 'स्वाभाविक' दो भागों में विभाजित किया गया है।[8] अर्थात् जीव, संसारी-अवस्था में, अपनी वैभाविक-शक्ति से कर्म निमित्त के अनुसार क्रोध, मान, माया-आदि विभाव रूपों में परिणमित होता है; और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाने पर, अपनी उसी शक्ति से, मुक्त-अवस्था में भी वह केवलज्ञान-आदि स्वभावरूप में परिणमन करता है। इसी आधार पर जीव परिणमन के उक्त दो प्रकार किये गये हैं। वैभाविक, संक्षेपतः तीन प्रकार का है—औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक। कर्मों के उदय से प्राप्त 'गति'-आदि इक्कीस प्रकार का है औदयिकभाव।[9] जबकि कर्मों के उपशम से उत्पन्न औपशमिक भाव 'उपशमसम्यक्त्व' एवं 'उपशम-चारित्र्य' नाम से दो प्रकार का है।[10] कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न क्षायोपशमिक भाव के अट्ठारह प्रकार होते हैं।[11]

विभाव-कर्मों का उत्पादक-कर्म मुक्त-अवस्था में विद्यमान नहीं रहता। इस कारण वहाँ विभाव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय नहीं होते। विभाव-पर्यायों के बीजभूत कर्म का अभाव होने से मुक्त-अवस्था में विभाव-पर्यायें उत्पन्न ही नहीं होतीं। बल्कि अनन्तानन्त-अगुरु-लघु गुण के कारण जीव का परिणमन वहाँ 'स्व-धर्म' रूप में ही होता है। जिससे मुक्त-आत्माओं में और उनके गुणों में भी षड्स्थान पतित हानि-वृद्धि के कारण उत्पाद-व्यय रूप स्वाभाविक-पर्याय ही उत्पन्न होते हैं।[12]

जीव की मूर्तता/अमूर्तता

जैन दर्शन में आत्मा की कथञ्चित् मूर्तता और कथञ्चित् अमूर्तता मानी गई है। आत्मा, अनादि-काल से ही पुद्गलरूप कर्मों के साथ नीर-क्षीर जैसा मिश्रित है। चूंकि, पुद्गल का स्वरूप 'मूर्त' है; इस दृष्टि से जीव की मूर्तता मानी गई हैं। वस्तुतः तो आत्मा अतीन्द्रिय—इन्द्रियों से अगम्य-पदार्थ है।इसी शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से उसमें अमूर्तता भी है।

पुद्गल, रूपी-रूपवान् पदार्थ है। उसमें श्वेत, नील, पीत, अरुण और कृष्ण पाँच-वर्ण, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर पाँच रस, सुगंध-दुर्गन्ध रूप दो-गन्ध, तथा शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मृदु-कर्कश, गुरू-लघु रूप आठ स्पर्श भी सदा विद्यमान रहते हैं। पुद्गल से संयुक्त होने के कारण सारे के सारे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श का योग आत्मा में भी हो जाता है। अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होने के कारण, मूर्त-पञ्चेन्द्रिय विषयों में आसक्त होने के कारण, मूर्त-कर्मों को अर्जित करने के कारण तथा मूर्त-कर्मों के उदय के कारण व्यावहारिक-अपेक्षा से उसे मूर्त माना जाता है।[13]

शुद्ध निश्चयदृष्टि से तो जीव/आत्मा, अमूर्त-स्वभाव वाला ही है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द —आदि पुद्गल भावों से वह रहित है। 'चैतन्य' होने के कारण धर्म, अधर्म आदि चार मूर्त-पदार्थों से भी वह भिन्न है, और एकमात्र शुद्ध-बुद्ध-स्वभाव का धारक होने से 'अमूर्त' भी है।

अतीन्द्रियता/अलिंगग्रहणता

आत्मा, इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का ग्रहण नहीं करता। यह उसका पारमार्थिक स्वभाव है। अन्य जीव भी अपनी-अपनी इन्द्रियों के द्वारा इसे नहीं जान पाते। क्योंकि, एक तो यह अतीन्द्रिय-पदार्थ हैं; दूसरे, स्व-संवेदनज्ञान से ही इसे जाना जाता है। जिस प्रकार धुँआ-रूप लिङ्ग—चिह्न को देख कर 'अग्नि' का ज्ञान होता है, इस प्रकार के किसी लिंग/चिह्न को देखकर, किसी भी पदार्थ को आत्मा नहीं जानता। बल्कि, अपने अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा ही यह समस्त पदार्थों को जानता है। इसी तरह, दूसरे जीव भी किसी इन्द्रियगम्य लिंग विशेष को देखकर आत्मा का अनुमान नहीं करते। इसीलिये इन्द्रियों से अग्राह्यता, शब्दों से अवाच्यता और अतीन्द्रिय-स्वभावता होने के कारण, आत्मा की अलिंग ग्रहणता सिद्ध होती है।[14]

बन्धन-बद्धता

यद्यपि आत्मा, वस्तुतः अमूर्त और अतीन्द्रिय है, तथापि ज्ञान दर्शन-स्वभावी होने के कारण मूर्त-अमूर्त द्रव्यों का द्रष्टा और ज्ञाता भी है। इस जानने-देखने से ही उसका अन्य द्रव्यों के साथ बन्ध होता है। यदि यह ज्ञाता-द्रष्टा न होता, तो बन्धन को भी प्राप्त न करता। चूँकि यह देखता है, जानता है, इसी से बन्धन में बँधता भी है।[15]

कोई एक बालक, मिट्टी के किसी खिलौने को आत्मीयता से देखता है, और उसे आत्मीय/अपना जानता/मानता है। किन्तु वह मिट्टी का खिलौना, वस्तुतः उस बालक से सर्वथा भिन्न है। उससे उसका किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता; तो भी, उस खिलौने को यदि कोई तोड़ता है, उससे छीनता है, तो वह बालक खिन्न हो जाता है। बालक और खिलौना, दोनों ही वस्तुतः अलग-अलग हैं। तब फिर खिलौने के टूट-फूट जाने, या छिन जाने से बालक को खिन्नता क्यों होती है? चूँकि बालक, उस खिलौने को अपनत्व-भाव से देखता है; अर्थात्, उस बालक का ज्ञान, खिलौने के कारण, तदाकार रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए 'पर-रूप' खिलौने के साथ उसका व्याव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हारिक-सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसी तरह आत्मा का पुद्गल/द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि अनादिकाल से पुद्गल-क्षेत्र में अवगाहन करते रहने के कारण, उसके प्रति राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्धोपयोग बन जाता है। इसी अशुद्ध-उपयोग के कारण भावात्मक रूप में पुद्गल/पदार्थ से बंध जाता है। इस बन्धन को हम 'भाव-बन्ध' कह सकते हैं।[16]

अशुद्ध-उपयोग से उत्पन्न राग-द्वेष-मोह भावों से जब-जब भी ज्ञेय-पदार्थों को आत्मा देखता है, या जानता है, तब-तब उसकी चेतना में विकार पैदा होने लगता है। इसी विकार के परिणाम-रूप में राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होते हैं, जो 'भाव-बन्ध' का आकार ग्रहण कर लेते हैं। भाव बन्ध का प्रारम्भ हो जाने पर, तदनुसारी द्रव्य-कर्मों का बंध भी हो जाता है।

आशय यह है, कि पर-उपाधियों से उत्पन्न, चेतना के विकार-रूप राग-द्वेष-मोह-परिणामों से आत्मा बँधता है। इन्हीं परिणामों के कारण, एक ही क्षेत्र/स्थान/आकृति में 'जीव' और 'कर्म' का पारस्परिक बन्ध होता है। तब, पुद्गल कर्म-वर्गणाओं की, यथायोग्य स्निग्ध-रूक्ष गुणों के अनुसार होनेवाली पारस्परिक बद्धता जो एक-पिण्ड आकृति ग्रहण करती है, उसे 'द्रव्य-बन्ध' कहते हैं।[17]

कथञ्चित् कर्तृत्व

आत्मा, व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से पर-पर्यायों में निमज्जन करता हुआ पुद्गल कर्मों का, अशुद्ध-निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से राग आदि चेतन-भावों/कर्मों का, शुद्ध-द्रव्यार्थिक-निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से शुद्ध-ज्ञान-दर्शन आदि आत्मभावों का कर्ता होता है। यद्यपि, ये ज्ञान-दर्शन-आदि भाव से आत्मा से अभिन्न हैं; तथापि पर्यायार्थिक दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न-स्वरूप वाले होने के कारण आत्मा से भिन्न भी हैं। इसलिए -आत्मा, अपने ज्ञान-दर्शन आदि का भी कथञ्चित कर्ता होता है।[18]

राग-आदि विकल्प-उपाधियों से रहित, निष्क्रिय और परम चैतन्य भाव से रहित जीव ने राग आदि को उत्पन्न करने वाले जिन कर्मों को उपार्जित कर लिया है, उनका उदय होने पर, निर्मल आत्मज्ञान को प्राप्त करता हुआ 'भावकर्म' कहे जाने वाले राग आदि विकल्प-रूप चेतन कर्मों का कर्ता, अशुद्ध निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से कहलाता है। शुद्ध निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से तो चेतन कर्मों का ही कर्ता होता है।

छद्म अवस्था में, शुभ-अशुभ काय-वाङ्-मनोयोग के व्यापार से रहित, एकमात्र शुद्ध स्वभाव-रूप में, जब जीव का परिणमन होता है, तब, भावना रूप से विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से अनन्त-ज्ञान-सुख आदि शुद्ध भावों का कर्ता होता है। जबकि मुक्त अवस्था में, शुद्धनिश्चय दृष्टि की अपेक्षा से ज्ञान आदि शुद्ध भावों का कर्ता होता है।

जीव में शुद्ध-अशुद्ध भावों के परिणमन का ही कर्तृत्व मानना चाहिए, न कि हाथ-पैर आदि व्यापार रूप परिणमन का। क्योंकि, नित्य, निरञ्जन, निष्क्रिय-स्वरूप भाव से रहित जीव में ही कर्म आदि का कर्तृत्व बनता है। अर्थात्—आत्मा, व्यवहार से पुद्गल कर्मों का, निश्चय से चेतन कर्मों का और शुद्धनय से शुद्धभावों का ही कर्ता होता है।[19]

कथञ्चित् अकर्तृत्व

'परिणाम' और 'परिणामी' में परस्पर अभेद होने से, परिणामी अपने ही परिणामों का कर्ता होता है।[20] चूँकि, जीव का परिणमन जीवन-क्रिया रूप में ही होता है, इसलिए जीव का परिणाम जीव ही होता है। जिस किसी द्रव्य में, जो भी परिणाम रूप क्रियायें होती हैं, इन क्रियायों के साथ वह द्रव्य तन्मय हो जाता है। इसी तरह जीव की भी अपनी क्रियाओं में तन्मयता के कारण, वे क्रियाएँ/परिणाम भी जीवमय बन जाते हैं। जो क्रियाएँ जीव के द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक की जाती हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे 'कर्म' हैं। इसलिए आत्मा, जब राग-द्वेष आदि विभाव-परिणाम वाली अपनी क्रियाओं के साथ तन्मय हो जाता है, तब उसकी 'तन्मयता' उसका 'भावकर्म' बनती है। इसी आधार पर आत्मा भावकर्मों का ही कर्ता ठहरता है, द्रव्यकर्मों का नहीं।[21]

चूँकि परिणाम और परिणामी में एकल्पता होती है, और परिणामों का कर्ता भी परिणामी ही होता है। इसलिए पुद्गल का परिणाम भी पुद्गल ही होगा। परिणाम रूप क्रियाओं के साथ सारे के साथ द्रव्य तन्मय बन जाते हैं। अतः पुद्गल का परिणाम भी पुद्गल क्रियामय है, यह मानना चाहिए। जो 'क्रिया' है, वही 'कर्म' है। इसलिए पुद्गल में पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणामों का ही कर्तृत्व, एक स्वतन्त्र कर्ता के रूप में बनता है, न कि जीव के भावकर्मरूप-परिणामों का। इस तरह, पुद्गल रूप द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व, पुद्गल में ही ठहरता है। आत्मा में द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व व्यवस्थित नहीं हो पाता।[22]

द्विप्रदेशी आदि पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध, स्निग्ध-रुक्ष-गुणों की परिणमन-शक्ति के अनुसार, स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' जाति के पृथ्वी-जल-अग्नि-वायुकायिक भी, स्निग्ध-रुक्ष भावों के परिणामों से, पुद्गल स्कन्ध पर्यायों में उत्पन्न होते हैं। इन परिणमनों में आत्मा/जीव की आवश्यकता रंचमात्र भी अपेक्षित नहीं होती।[23]

अनादिबन्ध के योग से जीव अशुद्ध भाव में परिणमन करता है। इस अशुद्ध-परिणाम के बहिरंग/बाह्य-बन्धरूप निमित्त कारण को प्राप्त करके कर्म वर्गणाएँ, अपनी ही अन्तरंग शक्ति के बल पर आठ कर्मों के रूप में परिणमित होती हैं। चूँकि ये कर्मवर्गणाएँ, स्वतः ही परिणमनशील हैं। इसलिए, इनके परिणामों का कर्ता भी आत्मा नहीं होता।

'लोक' में सर्वत्र अंनतानंत कर्मवर्गणाएँ भरी हुई हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि लोक के हर-एक प्रदेश/स्थान में जीवों की सत्ता है और सवत्र ही कर्मबन्ध के योग्य पुद्गल वर्गणाएँ भी विद्यमान हैं। इसलिए जीव, जहाँ भी जिस रूप में परिणमन करता है, वहाँ, वैसी ही कर्मवर्गणाएँ, उसके परिणामानुसार बन्ध जाती हैं। इस स्थिति से स्पष्ट है कि आत्मा, कर्मवर्गणाओं को बंधने के लिए प्रेरित तक नहीं करता। क्योंकि, जीव जहाँ है, वहाँ अनन्त कर्मवर्गणाएँ भी हैं। अतः उन दोनों का पारस्परिक बन्ध, स्वतः ही वहाँ हो जाता है। इसलिए, आत्मा, न तो पुद्गल पिण्ड रूप कार्माण-वर्गणाओं का कर्ता ठहरता है, न ही उनका वह प्रेरक होता है।[24]

कथञ्चित् भोक्तृत्व

व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा को सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मफलों का भोक्ता माना जाता है। निश्चय-दृष्टि से तो चेतन भाव का ही वह भोक्ता ठहरता है।[25] जो आत्मा, स्व-शुद्ध-आत्मज्ञान से प्राप्त होने वाले पारमार्थिक-सुखामृतरस का भी भोग नहीं करता है, वही आत्मा, उपचरित-असद्भूत व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा से, पंचेन्द्रिय विषयों से उत्पन्न इच्छित/अनिच्छित सुख-दुःखों का भोक्ता होता है। इसी तरह, अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से अनन्तसुख-दुःखों के उत्पादक द्रव्यकर्मरूप साता-असाता-उदय को भोगता है। यही आत्मा, अशुद्ध-निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से हर्ष-विषाद रूप सुख-दुःख का भी भोक्ता है। जबकि शुद्ध निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से, परमात्मस्वभाव के परिचायक सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का, और इनसे उत्पन्न अविनाशी-आनन्द-लक्षण वाले सुखामृत का भोक्ता है।

स्वदेह प्रमाणता

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह-प्रभृति समस्त राग आदि विभाव, देह में ममत्व के कारण हैं। इनमें आसक्ति होने के कारण और निश्चयदृष्टि से स्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देहभिन्न, किन्तु केवलज्ञान आदि अनन्तगुणराशि से अभिन्न शुद्ध-आत्मस्वरूप को प्राप्त न कर पाने के कारण, जीव जिस 'नामकर्म' को उपार्जित करता है, उसका उदय होने पर, जिस गुरु-लघु-देह को प्राप्त करता है, उसी के प्रमाण वाला वह होता है। आत्म-प्रदेशों के उपसंहार-प्रसर्पण स्वभाव से भी उसकी स्व-देह प्रमाणता सिद्ध होती है।

जैसे एक दीपक, छोटे से कमरे में रखने पर, उस छोटे कमरे में रखी हुई समस्त वस्तुओं को जिस तरह प्रकाशित करता है, उसी तरह, लम्बे-चौड़े कमरे में उसे रख देने पर, उस पूरे कमरे में रखी हुई वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसी तरह आत्मा भी गुरु—बड़े आकार के शरीर में स्थित रहकर अपने प्रसर्पण-स्वभाव से गुरु देह प्रमाणता का धारक बनता है। जबकि सूक्ष्म-शरीर-स्थिति में उपसंहार-स्वभाव से सूक्ष्म-शरीर प्रमाणता का धारक बनता है। किन्तु, वेदना, कषाय, विक्रिया, आहारक, मारणान्तिक, तैजस और केवली नामक समुद्घात दशाओं में उसकी देह प्रमाणता नहीं रह जाती।

'समुद्घात' का अर्थ होता है—'अपने मूल-शरीर को छोड़े बिना ही, आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलकर उत्तर देह की ओर जाना।[26] स्पष्ट है, समुद्घात की उक्त सातों अवस्थाओं में, आत्मा, अपने शरीर में ही स्थित नहीं रह जाता, वरन् तत्तत् समुद्घात दशा के अनुरूप, देह से बाहर भी निकल पड़ता है।

लोक-व्यापकता

आत्मा की गुरु-लघु देह प्रमाणता, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार-दृष्टि की अपेक्षा से ही है। निश्चयदृष्टि से आत्मा लोकाकाश प्रमाण या असंख्येय प्रदेशप्रमाण ही है।[27] अर्थात् स्व-संवित्ति समुत्पन्न केवलज्ञान की अवस्था में, ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा को, व्यावहारिक दृष्टि से 'लोक व्यापक' माना गया है। इसी तरह, पाँचों इन्द्रियों और ज्ञान के विकल्प से रहित समाधिकाल में आत्मज्ञान-रूप ज्ञान के विद्यमान होने पर भी, बाह्य-विशेष-रूप इन्द्रियों का ज्ञान न हो पाने के कारण आत्मा को 'जड़' भी माना गया है। इसी अवस्था में राग-द्वेष आदि विभाव परिणामों का अभाव हो जाने से उसे 'शून्य' भी कहा जाता है। और, इसे अणु-मात्र शरीर वाला कहने के अभिप्राय में उत्सेध-घनांगुल-असंख्येय भागमात्र लब्धि-अपूर्णसूक्ष्म-निगोद शरीर को ही ग्रहण करने का भाव निहित है न कि पुद्गलपरमाणु के ग्रहण का भाव।

यहाँ 'गुरु' शब्द से एक सहस्र योजन परिमाण वाले महामत्स्य शरीर का, और 'मध्यम' शब्द से मध्यम-आकार वाले शरीरों का ही ग्रहण किया जाता है। आशय यह है कि व्यवहारदृष्टि से आत्मा, समुद्घात अवस्था को छोड़कर, अपने संकोच-विस्तार स्वभाव से गुरु-लघुदेह प्रमाण वाला है। निश्चयदृष्टि से तो लोक-प्रमाण-असंख्येय प्रदेश वाला है।

देहान्तरता

सांसारिक दशा में, क्रमशः होने वाली विभिन्न अवस्थाओं में एक ही आत्मा रहता है। चूँकि, एक शरीर में एक ही आत्मा की प्रवृत्ति होती है, इसलिए, उस शरीर की समस्त पर्याय-परम्परा में वही आत्मा रहता है, कोई नया आत्मा, अलग-अलग पर्यायों में पैदा नहीं होता। यद्यपि व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा से आत्मा और शरीर, दोनों ही, एक ही शरीर में नीर-क्षीर की तरह मिश्रित एक ही आकार में रहते हैं। तथापि, निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से वह, देह में मिश्रित होकर भी एकरूपता प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि आत्मा, अपने स्वरूप के अनुसार देह से भिन्न ही होता है, किन्तु वही आत्मा, जब शुद्ध-राग-द्वेष परिणामों से संयुक्त होता है, तब, ज्ञानावरण-आदि कर्मों से मलिन होकर संसार में परिभ्रमण करता है।[28]

यद्यपि आत्मा, शरीर आदि पर-द्रव्यों से भिन्न है, तथापि, संसारावस्था में अनादिकर्म-सम्बन्ध से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और विभिन्न प्रकार के विभाव भावों का धारण करने से, नये-नये कर्मों से बंधता रहता है। इन्हीं कर्मों के कारण पुनः एक देह से दूसरा देह प्राप्त करता रहता है।

प्रदेश प्रमाणता

प्रत्येक समय में हो रही षड्गुण हानि वृद्धि से अनन्त-गुरुलघु गुणों की उत्पत्ति होती रहती है। ये गुण, आत्मा के अगुरुलघुस्वभाव से अविनाभावी होते हैं और आत्मा की स्थिति के अतिसूक्ष्म कारण बनते हैं। जितने भी जीव हैं, वे सभी, इन गुणों से परिणत होते हैं। कोई जीव ऐसा भी नहीं है, जिसमें ये गुण न हों। सभी जीव लोक प्रमाण-असंख्येय प्रदेशी हैं। इनमें से कुछ जीव, किसी प्रकार, दण्ड कपाट आदि अवस्थाओं में घनाकार रूप समस्त लोक प्रमाणता को प्राप्त कर लेते हैं, और समस्त जाति कर्मों के उदय से लोकप्रमाण विस्तार को प्राप्त करते हैं। इसी कारण, समुद्घात की अपेक्षा से, कुछ जीवों को लोकप्रमाण माना गया है। समुद्घात की अभाव दशा में जीवों को असवलोक प्रमाण ही माना गया है।

नित्यानित्यता

पूर्वलिखित लक्षणों से युक्त जीव को सहज शुद्ध चैतन्य पारिणामिक भावों से अनादि-अनन्तता होती है, और अपने स्वभाव से तीनों ही कालों में टङ्कोत्कीर्ण विनाशी होकर औदयिक एवं क्षायोपशमिक भावों से सादि-सान्तता भी होती है। आत्मा का स्वभाव कर्मजनित है, इस दृष्टि से, कर्मजनित औदयिक-आदि भाव भी उसके हैं। कर्म का स्वभाव है बंधना और निर्जरित होना। अतः कर्म में भी सादि-सान्तता है। इसी अपेक्षा से जीव में भी सादि-सान्तता बन जाती है।

यही जीव, क्षायिकभाव की अपेक्षा से सादि-अनन्त भी होता है। क्षायिकभाव, कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है। अतः जीव में सादिता के साथ अनन्तकालिक स्थिति बन जाने से अनन्तता भी आ जाती है। सत्ता-स्वरूप की दृष्टि से तो जीव राशि में अनन्तता रहती ही है।

'भव्य' और 'अभव्य' भेद से जीव के दो प्रकार हैं। अभव्य जीव अनन्त हैं। इनसे भी अनन्तगुणा अधिक भव्य जीव हैं। अतः भव्य जीव भी अनन्त हैं। अनादि कर्म सम्बन्ध के कारण, आत्मा अशुद्ध भाव से परिणमन करता है। इससे वह 'सादि-अन्त' और 'सादि-अनन्त' भी होता है। कीचड़ मिला जल अशुद्ध होता है। कीचड़ के 'सम्मिश्रण' और 'अभाव' की स्थितियों के आधार पर उसे क्रमशः 'अशुद्ध' और 'शुद्ध'—जल कहा जाता है। इसी प्रकार, आत्मा में भी कर्म सम्बन्ध की 'संयोग' और 'विप्रयोग' स्थितियों के अनुसार 'सादि-अन्तता' और 'सादि-अनन्तता' बन जाती है।[29]

इन पूर्वोक्त भाव परिणतियों वाला जीव, जब मनुष्य आदि पर्याय को प्राप्त करता है, तब, उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से उसमें 'विनाशात्मकता' आ जाती है। क्योंकि, मनुष्य-आदि पर्याय 'विनाशी' हैं। और, चूँकि देव-आदि पर्यायों को उसने प्राप्त नहीं किया है, इससे देव-आदि पर्यायें उसके लिए 'उत्पाद' रूप बनी रहती है। इस कारण उसमें 'उत्पादकता' भी बनी रहती है। इस उत्पाद-व्ययात्मकता अथवा विनाश-उत्पादकता के कारण भी जीव में 'अनित्यता' रहती है। तथापि वह, मनुष्य-देव आदि पर्यायों में 'जीव' रूप से सदा विद्यमान रहता है। इससे उसकी 'नित्यता' भी सिद्ध होती है। जैसे जल, तरंग-कल्लोल आदि की अपेक्षा से उत्पाद व्ययात्मक स्वरूप वाला, अतएव 'अनित्य' कहा जाता है। परन्तु जलरूप द्रव्यात्मकता के कारण 'नित्य' भी सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार, जीव भी द्रव्य दृष्टि से 'नित्य' है। जबकि गुण-पर्यायों की दृष्टि से 'अनित्य' ही है। जीव/आत्मा की नित्यानित्यता का यही स्वरूप है।[30]

द्विविधरूपता

द्रव्य की दो शक्तियाँ हैं—क्रियावती शक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भाववती शक्ति। 'जीव' और 'पुद्गल' में ये दोनों की शक्तियाँ रहती हैं। किन्तु शेष चारों पदार्थों में केवल भाववती शक्ति ही होती है। इन्हीं शक्तियों से द्रव्यों में परिणमन होता है। भाववती शक्ति से 'शुद्ध-परिणाम' और क्रियावती शक्ति से 'अशुद्ध परिणाम' होता है। अतः भाववती शक्ति के निमित्त से उत्पन्न परिणाम को 'शुद्धपर्याय' कहा जाता है। जबकि क्रियावती शक्ति के निमित्त से उत्पन्न परिणाम को 'अशुद्ध-पर्याय' कहा जाता है। इसी आधार पर जीव-पुद्गल के शुद्ध-अशुद्ध-परिणाम होते हैं। किन्तु शेष चार पदार्थों में केवल भाववती शक्ति ही विद्यमान रहती है। जिससे तज्जन्य-परिणाम केवल शुद्ध पर्याय रूप में ही होता है।

जीव में जो स्व-प्रदेश मात्र परिणमन होता है, वह उसकी 'शुद्ध पर्याय' होती है। कर्म सम्बन्ध के कारण जीव को एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रूपान्तरित करने वाले परिणमन को उसका अशुद्ध पर्याय कहा जाता है। इन्हीं दो परिणमनों के आधार पर, जीव के 'संसारी' और 'मुक्त' दो रूप बन जाते हैं।[31] कर्मसहित जीवों को 'संसारी' और कर्मरहित जीवों को 'मुक्त' कहा जाता है।

संसारित्व

अनन्त जीव-समुदाय में अनन्तानन्त-जीव ऐसे हैं, जो अनादिकाल से मिथ्यात्व और कषाय के संयोग के कारण संसारी हैं। देहधारियों को नारकी-तिर्यञ्च-मनुष्य गतियों का जो भी शरीर प्राप्त होता है, और उस शरीर के आकार रूप आत्मप्रदेशों में जो परिणमन होता है, उसे 'अशुद्ध आत्म पर्याय' या 'अशुद्ध आत्मद्रव्य' कहा जाता है। इसी को 'अशुद्ध-जीव' या 'संसारी' नामों से भी व्यवहृत किया जाता है। क्योंकि आत्मा, कर्म-संयोग के निमित्त से ही देशान्तर, अवस्थान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त करता है।[32]

आत्मा का जो 'अतीन्द्रिय'— 'अमूर्तिक' स्वभाव है, उसके अनुभव से उत्पन्न सुखामृत-रस-भाव को प्राप्त न कर सकने वाले कुछ ही जीव, इन्द्रिय सुख की अभिलाषा से, और इस सुख का ज्ञान हो जाने पर इस सुख में आसक्ति से एकेन्द्रिय जीवों का घात करते हैं। इस घात से उपार्जित त्रस-स्थावर नाम कर्म के उदय से संसारी जीवों के दो भेद— 'त्रस' एवं 'स्थावर' हो जाते हैं। अर्थात्—एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से पृथिवी-जल-तेज-वायु और वनस्पति जीव, एकमात्र स्पर्शन-इन्द्रिय वाली 'स्थावर' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। जबकि दो-तीन-चार-पाँच इन्द्रियों के धारक जीव' 'त्रस' नामकर्म के उदय के कारण, 'त्रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। संसारी जीवों की यही द्विविधता है।

सिद्धत्व

जो जीव, ज्ञानावरण-आदि अष्टविध कर्मों से रहित, अतएव जन्म-मरण से रहित, सम्यक्त्व-आदि अष्टविधगुणों के धारक, अतएव संसार में पुनः वापिस न आ सकने वाले स्वभाव-युक्त, अमूर्तिक, अतएव अभेद्य-अच्छेद्य-चेतनद्रव्य की शुद्ध-पर्याय-युक्त होते हैं, उन्हें 'सिद्ध', मुक्तजीव' या 'विमल-आत्मा' कहा जाता है।[33]

ये सिद्ध-जीव, ऊर्ध्वगामी-स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित रहते हैं। क्योंकि जीव, जहाँ-कहीं पर कर्मों से विप्रयुक्त होता है, तब, वह वहीं पर ठहरा नहीं रह जाता, अपितु, पूर्व-प्रयोग, असङ्गता, बन्ध-विच्छेद तथा गति-परिमाण रूप चार कारणों से, अविद्ध कुलालचक्रवत्, व्यपगतलेप-अलम्बुवत्, एरण्डबीजवत् और अग्निशिखावत्, ऊर्ध्वगमन कर जाता है तथा लोकाग्र में पहुँचकर ठहर जाता है। चूँकि, गति में सहायक धर्मास्ति-काय द्रव्य की सत्ता, लोक से आगे नहीं है। अतः मुक्त-जीव भी लोक से ऊपर नहीं जा पाता। यद्यपि संसार के कारणभूत द्रव्य-प्राण, सिद्ध-मुक्त-जीवों में नहीं पाये जाते, तथापि, भावप्राणों के विद्यमान रहने से कथञ्चित् प्राणसत्ता रहती ही है। इसी दृष्टि से इन्हें 'अमूर्तिक', 'शरीररहित' और 'अवाग्गोचर' आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिविधता

यद्यपि, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा एक है, किन्तु परिणामात्मक पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा से वह 'बहिरात्मा', 'अन्तरात्मा' और 'परमात्मा' भेदों से तीन प्रकार का हो जाता है।[34]

संसारी-जीव, शरीर-आदि पर-द्रव्यों में जब तक 'आत्मबुद्धि' बनाये रखता है, अथवा मिथ्यात्व दशा में अवस्थित रहता है, तभी तक उसे 'बहिरात्मा' कहा जाता है।[35] किन्तु, जब शरीर आदि में से उसकी आत्मबुद्धि और मिथ्यात्व भी दूर हो जाता है, तब वह 'सम्यग्दृष्टि' बन जाता है। और उसे 'अन्तरात्मा' कहा जाने लगता है।[36]

यह अन्तरात्मा भी उत्तम, मध्यम एवं जघन्य भेदों से तीन प्रकार का होता है। 'उत्तम-अन्तरात्मा' वह आत्मा होता है, जो समस्त परिग्रहों का त्याग कर चुका हो, निस्पृह हो, शुद्धोपयोग वाला हो और आत्मध्यानी हो। 'मध्यम-अन्तरात्मा' वे जीव हैं, जो देशव्रतों के धारक गृहस्थ हैं, अथवा षष्ठ-गुण-स्थानवर्ती निर्ग्रन्थ-साधु हैं। जबकि चतुर्थगुणस्थानवर्ती, व्रतरहित, सम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरात्मा' कहलाते हैं। तीनों ही अन्तरात्मा अन्तर्दृष्टि वाले और मोक्षमार्ग के साधक होते हैं।

'परमात्मा' के भी दो प्रकार हैं—'सकल परमात्मा' और 'विकल परमात्मा'। घाति-कर्मों के विनाशक, सम्पूर्ण पदार्थों के वेत्ता 'अर्हन्त' को 'सकल परमात्मा' शब्द से अभिहित किया जाता है। जबकि घाति-अघाति-समस्त कर्मों से रहित, अशरीरी, 'सिद्ध परमेष्ठी' के लिए 'विकल-परमात्मा' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[37] सांसारिक जीव/आत्मा, इसी स्थिति में पहुँच कर अपने उच्चतम/उन्नत-स्वरूप को प्राप्त करता है। जैनदर्शनसम्मत आत्मा के स्वरूप का यही संक्षिप्त-विवेचन है। 卐

टिप्पण-सन्दर्भ

१. साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ
२. वृहद्द्रव्यसंग्रह-५७
३. पञ्चास्तिकाय-३०
४. वृहद्द्रव्यसंग्रह-३
५. तत्वार्थराजवार्तिक-१/४/७
६. वृहद्द्रव्यसंग्रह-६
७. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/४
८. वही-३/७-८
९. तत्त्वार्थसूत्र-१/६
१०. तत्त्वार्थसूत्र-१/३
११. वही-१/५
१२. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/६
१३. द्रव्यसंग्रह-७
१४. प्रवचनसार-२/८०
१५. वही-२/८२
१६. प्रवचनसार-२/८३
१७. वही-२/८४
१८. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/१३
१९. वृहद्द्रव्यसंग्रह-८
२०. प्रवचनसार-२/३०
२१. समयसार-१०२
२२. वही-१०३
२३. प्रवचनसार-२/७५
२४. वही-२/७६
२५. वृहद्द्रव्यसंग्रह-१०
२६. गोम्मटसार-जीवकाण्ड-६६८
२७. प्रवचनसार-२/४४
२८. पञ्चास्तिकाय-३४
२९. वही-५३
३०. वही-५४
३१. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/९
३२. वही-३/११
३३. वही-३/१०
३४. मोक्षप्राभृत-४
३५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड-३/१२
३६. वही
३७. समाधितंत्र-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org